युगान्त

प्रकाशक
इन्द्र प्रिंटिंग वर्क्स,
अल्मोड़ा

श्री सुमित्रानन्दन पंत

[बारह आना

दो शब्द

'युगान्त' में मेरे कुछ नवीन प्रयत्न संकलित हैं। इन्द्र प्रिंटिंग् वर्क्स के नवयुवक अध्यक्ष श्री मदन मोहन जी अग्रवाल की हार्दिक अभिलाषा थी कि मेरी नवीन पुस्तक मेरी जन्म-भूमि से प्रकाशित हो, मुझे उनकी इच्छा स्वाभाविक जान पड़ी।

'युगान्त' में 'पल्लव' की कोमल-कान्त कला का अभाव है। इसमें मैंने जिस नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है, मुझे विश्वास है, भविष्य में मैं उसे अधिक परिपूर्ण रूप में ग्रहण एवं प्रदान कर सकूँगा।

इति

रिट्रीट,
रानीधारा,
अल्मोड़ा।

श्री सुमित्रानन्दन पंत
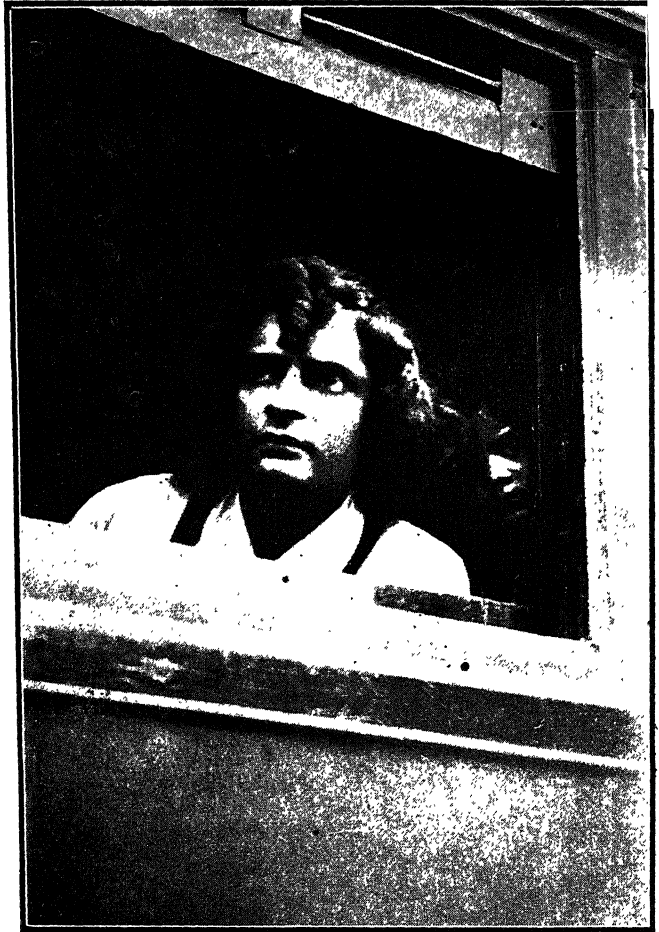
श्री सुमित्रानन्दन पन्त

चित्र-रेखा

हिन्दी संसार में श्री सुमित्रानन्दन जी पन्त का जीवन-परिचय नहीं के बराबर है। 'युगान्त' उनकी जन्म-भूमि अल्मोड़ा से प्रकाशित हो रहा है; अतएव, पाठकों की सुविधा के लिए, हम उनके जीवन की छोटी सी चित्र-रेखा इस संग्रह के साथ जोड़ देना अनुचित नहीं समझते हैं।

श्री सुमित्रानन्दन जी पन्त का जन्म, अल्मोड़ा से पचीस मील दूर, कौसानी गाँव में, मई, सन् १९०० में हुआ। प्राकृतिक-सौन्दर्य की दृष्टि से कौसानी कवि की उपयुक्त जन्म-भूमि है। महात्मा गाँधी ने उसकी स्विट्ज़रलैंड से तुलना कर अतिशयोक्ति नहीं की। पन्त जी का कहना है कि उनके काव्य का प्राकृतिक सौन्दर्य-जगत कौसानी की वही मनोरम स्वर्ण-स्मृतियाँ हैं, जो उनके बचपन के सद्यःस्फुट सौन्दर्य-प्रिय हृदय में अनेक कोमल तहों में अंकित हो गई थीं।

पन्त जी के जन्म के छः घण्टे बाद उनकी माता जी का देहान्त हो गया, जिससे वह एक प्रकार से मातृ-स्नेह से वंचित रहे। उनका लालन-पालन उनकी फूफी ने किया और किया उनके अत्यन्त स्नेह-शील पिता जी ने, जिन्होंने अपने अगाध स्नेह के कारण पन्त जी को माता के अभाव का कभी अनुभव नहीं होने दिया। उनके पिता स्वर्गीय पं० गंगादत्त जी पन्त अत्यन्त उदार धार्मिक विचारों के मनुष्य थे। वह कौसानी टी एस्टेट में एकाउन्टेन्ट के पद पर नियुक्त थे और निजी तौर से लकड़ी का कारोबार करते थे। उन्होंने उससे अच्छा धन तथा यश उपार्जित किया था। पन्त जी के तीन बड़े भाई और चार बहिनें थीं, जिनमें अब केवल दो भाई और एक बहिन है।

छुटपन ही से पन्त जी अकेले रहना पसन्द करते थे। अपने समवयस्क बालकों के साथ खेलना-कूदना उन्हें अधिक प्रिय न था। हिमालय के ऊँचे-ऊचे स्वच्छ शिखर, पत्थर की बड़ी-बड़ी शिलाएँ, घनी वन-भूमि का गम्भीर दृश्य तथा क़रीब सात हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर

बसी हुई कौसानी का स्निग्ध, स्वच्छ, वातावरण उनके कोमल हृदय को अपने सौन्दर्य तथा वैचित्र्य से अभिभूत किए रहता था। पर्वत-प्रदेश का उज्ज्वल-एकान्त, स्वप्न-पूर्ण प्रभात-सन्ध्या, पहाड़ी झरने तथा ग्राम-जीवन का सरलपन, सबने मिलकर उनके बाल्य जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। भावुक-बालक ने प्रकृति की शान्त-स्निग्ध गोद में बढ़कर कौसानी की ग्राम-पाठशाला में विद्यारम्भ किया।

ग्यारह वर्ष की उम्र में वह अल्मोड़ा गवर्नमैन्ट हाई स्कूल में भरती हुए। शहर में आकर उन नवीन परिस्थितियों के बीच उन्होंने अपने को अत्यन्त संकोचशील, भीरु तथा अनुभव-शून्य पाया। स्कूल का जीवन उनके लिए किसी प्रकार भी आकर्षक नहीं था। मास्टरों का आतंक तथा सहपाठियों की उच्छृङ्खलता उनके मन में सर्वोपरि बन गई थी। अपनी आकर्षक-आकृति के कारण उन्हें स्कूल तथा शहर के अभिनयों में भाग लेने का अवसर मिलने लगा। दर्शकों से प्रशंसित एवं उत्साहित होने के कारण उनमें आत्म-आह्लाद तथा नवीन आकांक्षाएँ उदय होने लगीं। सातवें क्लास में युवक नेपोलियन के घुँघराले बाल वाले एक सुन्दर चित्र से आकर्षित होकर उन्हें लम्बे बाल रखने की इच्छा हुई, जो अब उनके व्यक्तित्व का एक भाग बन गई है।

हिन्दी साहित्य के चिर-परिचित, नाटक तथा कहानी लेखक, पं० गोविन्द वल्लभ जी पन्त भी उन दिनों स्थानीय स्कूल में पढ़ते थे। सन् १९१९ में उन के भतीजे पं० श्यामाचरण जी पन्त के सम्पर्क में आकर पन्त जी का झुकाव हिन्दी की ओर हुआ। उन्हें छुटपन की चपल-स्पर्धा के

कारण कुछ ही समय में हिन्दी का अच्छा ज्ञान हो गया। स्कूल की पुस्तकों से उनका ध्यान हटता गया और आठवें से दसवें दर्जे तक उन्होंने पर्याप्त संख्या में हिन्दी पुस्तकें मँगाकर पढ़ लीं। हिन्दी के शब्दों का प्रचुर ज्ञान हो जाने के कारण उनके मित्र उन्हें 'मशीनरी आफ वर्ड्स' कहा करते। आठवीं कक्षा से ही उन्होंने कविता लिखना भी आरंभ किया। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में गुप्त जी की शैली की छाया रहती थी। कविता भी प्रायः हरिगीतिका, रोला, वीर आदि प्रचलित छन्दों में होती थी। नवीं और दसवीं कक्षा में उनकी कविता के विषय 'तम्बाकू का धुआँ', 'कागज का कुसुम' आदि होते, जिनमें उनकी भावी शैली का आभास मिलने लगा था। इस समय की प्रायः सभी रचनाएँ जो कि काफ़ी संख्या में थीं—पन्त जी ने नष्ट कर दीं हैं। कुछ रचनाएँ पं० श्यामाचरण दत्त जी पन्त द्वारा सम्पादित हस्तलिखित 'सुधाकर' में, 'हिमालय में,' स्थानीय 'अल्मोड़ा अख़बार' तथा उस समय की'मर्यादा'में देखने को मिल सकती हैं। उन दिनों की शैलो के विकास में उन्होंने पं० गोविन्द वल्लभ जी पन्त, तथा प्रसाद जी की कृतियों से सहायता ली होगी। 'हार' नामक एक उपन्यास भी पन्त जी ने आठवें दर्ज़े में लिखा, जिसकी पांडुलिपि नागरी प्रचारणी सभा में सुरक्षित है। पन्त जी एक साधारण कोटि के विद्यार्थी रहे हैं। पाठ्य-पुस्तकों की ओर उनकी कभी रुचि नहीं रही। हिन्दी की ओर अधिक संलग्न रहने तथा नवीन काव्य-प्रेम के प्रवाह में, नवयुवकोचित उत्साह के आधिक्य से, बह जाने के कारण वह दसवें दर्ज़े में फ़ेल हो गये। उन्होंने हाइ स्कूल की परीक्षा दूसरे साल जय नारायण हाइ स्कूल बनारस से दी। बनारस में उन्हें अपनी प्रतिभा को

विकसित करने का बहुत अच्छा अवसर मिला। रवीन्द्र तथा सरोजनी नायडू की कविताओं से उनके भीतर एक नवीन प्रकार के अस्पष्टसौन्दर्य-बोध तथा माधुर्य का जन्म हुआ। यहीं उन्होंने बँगला का भी थोड़ा-सा अभ्यास किया तथा 'चयनिका' और 'गीताञ्जलि' की कविताओं का रस लिया। 'वीणा' सिरीज़ की कविताओं का भी श्रीगणेश यहीं हुआ। इन कविताओं में रवि बाबू की प्रतिभा के सम्पर्क में आ जाने का थोड़ा बहुत आभास हमें मिलता है। हाइ स्कूल में उन्हें हिन्दी में डिस्टिङ्क्शन मिला। उस साल बनारस की अन्तः पाठशालाओं के कवि-सम्मेलन में उन्हे प्रथम पारितोषिक भी प्रदान किया गया।

हाइ स्कूल पास कर लेने पर सन् १९१९ में पन्त जी बनारस छोड़ कर प्रयाग आ गये और म्युअर कालेज में पढ़ने लगे। वह हिन्दू हास्टल में रहते थे। 'इस विस्तृत हास्टल में' नामक कविता, जो उनकी 'वीणा' में प्रकाशित हुई है, इसी हास्टल पर लिखी गई थी।

अपने हास्टल के कवि-सम्मेलन में जब पन्त जी 'स्वप्न' नामक कविता पढ़ रहे थे, तब उनके मधुर पढ़ने के ढंग एवं नवीन शैली से आकर्षित हो, पं० शिवाधार जी पांडेय एम० ए० ने—जो प्रयाग विश्वविद्यालय के अंगरेज़ी विभाग में हैं—उन्हें एक होनहार कवि मानकर अनेक प्रकार से प्रोत्साहित किया और उन्हें अंगरेज़ी साहित्य का बोध प्राप्त करने में अत्यन्त उदारता पूर्वक यथेष्ट सहायता प्रदान की।

गर्मियों की छुट्टियों में पहाड़ लौटने पर पन्त जी ने 'ग्रन्थि' लिखी। स्कूल में उनका साइन्स था, कालेज में उन्होंने संस्कृत ले

लिया। संस्कृत के कवियों के अध्ययन के कारण 'ग्रन्थि' में तत्सम शब्दों तथा अलङ्कारों का अधिक प्रयोग मिलता है। 'ग्रन्थि' का कथानक दुःखान्त है, 'पल्लव' की कविताओं में भी पन्त जी का जीवन के प्रति 'ग्रन्थि' का-सा करुणा-क्लिष्ट भाव पाया जाता है। 'ग्रन्थि' की रचना के बाद ही 'पल्लव' सिरीज की कविताओं का जन्म हुआ, जिसमें पन्त जी की प्रतिभा हमें सबसे अधिक प्रस्फुटित मिलती है। 'पल्लव' की रचनाओं से—जिनमें 'स्वप्न' भी है—हिन्दी संसार का ध्यान पन्त जी की प्रतिभा की ओर आकृष्ट हुआ। इन कविताओं में अंगरेज़ी कवियों का—ख़ासकर, शैली-टेनीसन की कल्पना, सौन्दर्य- बोध और स्वर-वैचित्र्य का—ख़ासा अच्छा प्रभाव पाया जाता है। १९२१ में महात्मा गाँधी के भाषण से प्रभावित हो पन्त जी ने कालेज छोड़ दिया। उस साल गर्मियों में नैनीताल रहकर उन्होंने 'उच्छ्वास' लिखा। 'उच्छ्वास' का सजीव प्राकृतिक वर्णन तथा पावस का 'पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश' नैनीताल का ही चित्र-दर्शन है। इन दो तीन वर्षों के भीतर ही 'पल्लव' सिरीज की अधिकांश कविताएँ लिखी गईं थीं। अँगरेजी कवियों के सौन्दर्य-बोध तथा पर्वत-प्रदेशों के प्राकृतिक सौन्दर्य से अपने कल्पना-जगत का निर्माण कर लेने पर अपने देश की वाह्य विषएण दशा से अपने अन्तर्जगत का कहीं साम्य न पाने के कारण पन्त जी का व्यथित-चित्त १९२३ से दर्शनशास्त्र की ओर झुका। फलतः 'क्यों', 'क्या', 'कैसे' आदि प्रश्न उनके मस्तिष्क को उद्वेलित करने लगे। अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए उन्होंने पूर्वी-पश्चिमी दर्शनशास्त्र तथा मनोविज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया। 'परिवर्तन' कविता में थोड़ी बहुत उनकी इस जिज्ञासा की झलक

मिलती है किन्तु जैसा उनकी तब की रचनाओं से जान पड़ता है दर्शनशास्त्र के यत्किञ्चित् ज्ञान से उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिली। इन्हीं दिनों उन्होंने अपने मित्र की सहायता से 'ओमर ख़याम' का फ़ारसी से अनुवाद किया, जो अभी अप्रकाशित है।

१९२८ में पन्त जी के पिता का देहान्त हो गया। मानसिक और परिवारिक अशान्ति के कारण वे रुग्ण हो गये। १९२९ में प्रख्यात सर्जन, डाक्टर नीलाम्बर जी जोशी की सहृदय चिकित्सा द्वारा उन्होंने नवीन स्वास्थ्य-लाभ किया। उन्हीं दिनों उनके हृदय में जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का उदय हो चुका था।

पन्त जी का हृदय-मन्थन एक नवीन आशावाद में परिणत हो गया, जिसकी झलक 'गुञ्जन' की कविताओं में यथेष्ठ मात्रा में देखने को मिलती है। १९३१ से ३४ तक का समय उन्होंने कुँवर सुरेश सिंह जी के साथ कालाकाँकर में व्यतीत किया। १९३० में उन्होंने 'अवगुण्ठन' कहानी तथा 'मधुवन' आदि कविताएँ लिखीं। १९३२ में 'गुञ्जन' लिखा। 'पल्लव' के बाद 'गुञ्जन' में पन्त जी की काव्य-धारा प्राकृतिक क्षेत्र से हटकर मानव-जीवन के क्षेत्र में अवतरित हो गई। उनके उस समय के मानसिक जीवन की प्रतिच्छवि उसमें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इन्हीं दिनों कुछ मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि कर उन्होंने १९३३ में 'ज्योत्स्ना' के रूपक का निर्माण किया। 'ज्योत्स्ना' में उनकी विचार-धारा विकसित मानव-वाद तथा काल्पनिक समाजवाद के सामञ्जस्य के रूप में उद्गीर्ण हुई है। उनकी पाँच कहानियों में, जो १९३६ में प्रकाशित हुई हैं, 'ज्योत्स्ना' की विचार-धारा ने अधिक वास्तविक रूप धारण कर लिया है।

अब उनकी नवीन कविताओं का संग्रह 'युगान्त' के रूप में पाठकों के सामने उपस्थित हो रहा है। इन रचनाओं में उनकी शैली के अनुरूप ही उनके विचार भी अधिक स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक होगये हैं। हमारा विश्वास है, भविष्य में पन्त जी एक महान कलाकार के रूप में प्रकट होकर हिन्दी प्रेमियों तथा देश वासियों की वास्तविक सेवा कर सकेंगे। एवमस्तु।

लखनऊ विश्वविद्यालय
५-११-३६

दीनानाथ पन्त

सूची

युगान्त

अपने चाचा,
पं० हंसादत्त जी पंत को
सादर-भेंट

एक

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क-शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़, पुराचीन !!

निष्प्राण विगत-युग ! मृत विहङ्ग !
जग-नीड़ शब्द औ' श्वास-हीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पङ्खों-से तुम
झर-झर अनन्त में हो विलीन !

कङ्काल-जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर,—पल्लव-लाली !
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !

मञ्जरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर मदिरा से
भरदे फिर नव युग की प्याली !

(फरवरी '३४)

दो

गा, कोकिल, बरसा पावक-कण !

नष्ट-भ्रष्ट हों जीर्ण-पुरातन,
ध्वंस-भ्रंश जुग के जड़ बन्धन !
पावक-पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन !

गा, कोकिल, भर स्वर में कम्पन !

झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
अन्ध-नीड़-से रूढ़ि-रीति छन,
व्यक्ति-राष्ट्र-गत राग-द्वेष रण,
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण !

गा, कोकिल, गा,—कर मत चिन्तन !

नवल रुधिर से भर पल्लव-तन,
नवल स्नेह-सौरभ से यौवन,
कर मञ्जरित नव्य जग-जीवन,
गूँज उठें पी-पी मधु सब जन !

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन !

रच मानव के हित नूतन मन,
वाणी, वेश, भाव नव शोभन,
स्नेह, सुहृदता हो मानस-धन,
करें मनुज नव जीवन-यापन !

गा, कोकिल, सन्देश सनातन !

मानव दिव्य स्फुलिङ्ग चिरन्तन,
वह न देह का नश्वर रज-कण !
देश-काल हैं उसे न बन्धन,
मानव का परिचय मानवपन !

कोकिल, गा, मुकुलित हों दिशि-क्षण !

(एप्रिल '३९)

तीन

झर पड़ता जीवन-डाली से
मैं पतझड़ का-सा जीर्ण-पात !—
केवल, केवल जग-कानन में
लाने फिर से मधु का प्रभात !

मधु का प्रभात !—लद्-लद् जातीं
वैभव से जग की डाल-डाल,
कलि-कलि, किसलय में जल उठती
सुन्दरता की स्वर्गीय-ज्वाल !

नव मधु-प्रभात !—गूँजते मधुर
उर-उर में नव आशाऽभिलाष,
सुख-सौरभ, जीवन-कलरव से
भर जाता सूना महाकाश !

आः मधु-प्रभात !—जग के तम में
भरती चेतना अमर प्रकाश,
मुरझाए मानस-मुकुलों में
पाती नव मानवता विकाश !

मधु-प्रात ! मुक्त-नभ में सस्मित
नाचती धरित्री मुक्त-पाश !
रवि-शशि केवल साक्षी होते
अविराम प्रेम करता प्रकाश !

मैं झरता जीवन-डाली से
साह्लाद्, शिशिर का शीर्ण पात !
फिर से जगती के कानन में
आ जाता नवमधु का प्रभात !

(एप्रिल '३४)

चार

चञ्चल पग दीप-शिखा-से धर
गृह, मग, वन में आया वसन्त !
सुलगा फाल्गुन का सूनापन
सौन्दर्य-शिखाओं में अनन्त !

सौरभ की शीतल ज्वाला से
फैला उर-उर में मधुर दाह
आया वसन्त, भर पृथ्वी पर
स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह !

पल्लव-पल्लव में नवल रुधिर
पत्रों में मांसल-रंग खिला,
आया नीली-पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला!

अधरों की लाली से चुपके
कोमल गुलाब के गाल लजा,
आया, पङ्खड़ियों को काले—
पीले धब्बों से सहज सजा!

कलि के पलकों में मिलन-स्वप्न,
अलि के अन्तर में प्रणय-गान
लेकर आया, प्रेमी वसन्त,—
आकुल जड़-चेतन स्नेह-प्राण!

काली कोकिल!—सुलगा उर में
स्वरमयी वेदना का अँगार,
आया वसन्त, घोषित दिगन्त
करती, भर पावक की पुकार!

आः, प्रिये! निखिल ये रूप-रंग
रिल-मिल अन्तर में स्वर अनन्त
रचते सजीव जो प्रणय-मूर्ति
उसकी छाया, आया वसन्त!

(एप्रिल '३५)

पाँच

विद्रुम औ' मरकत की छाया,
सोने-चाँदी का सूर्यातप;
हिम-परिमल की रेशमी वायु,
शत-रत्न-छाय, खग-चित्रित नभ !

पतझड़ के कृश, पीले तन पर
पल्लवित तरुण लावण्य-लोक;
शीतल हरीतिमा की ज्वाला
दिशि-दिशि फैली कोमलालोक !

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग: सद्य सौन्दर्य-सृष्टि;
मञ्जरित प्रकृति, मुकुलित दिगन्त,
कूजन-गुञ्जन की व्योम-वृष्टि !

—लो, चित्रशलभ-सी, पङ्ख खोल
उड़ने को है कुसुमित घाटी,—
यह है अल्मोड़े का वसन्त,
खिल पड़ीं निखिल पर्वत-पाटी !

(मई '३९)

छः

जगती के जन-पथ, कानन में
तुम गाओ विहग ! अनादि गान,
चिर शून्य शिशिर-पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण ।

जल, स्थल, समीर, नभ में मिलकर
छेड़ो उर की पावक-पुकार,
बहु-शाखाओं की जगती में
बरसा जीवन-संगीत प्यार ।

तुम कहो, गीत-खग ! डालों में
जो जाग पड़ी कलियाँ अजान,
वह विटपों का श्रम-पुण्य नहीं
वह मधु का मुक्त, अनन्त-दान !

जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात,
जो देख चुके जीवन-निशीथ
वे देखेंगे जीवन-प्रभात !

(मई '३९)

सात

वे चहक रहीं कुञ्जों में चञ्चल सुन्दर
चिड़ियाँ, उर का सुख बरस रहा स्वर-स्वर पर।
पत्रों-पुष्पों से टपक रहा स्वर्णातप
प्रातः समीर के मृदु स्पर्शों से कँप-कँप!
शत कुसुमों में हँस रहा कुञ्ज उडु-उज्वल,
लगता सारा जग सद्य-स्मित ज्यों शतदल।
है पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किन्तु मानव-जग!
क्यों म्लान तुम्हारे कुञ्ज, कुसुम, आतप, खग?
जो एक, असीम, अखण्ड, मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन-सार्थकता!
लगती विश्री औ' विकृत आज मानव-कृति,
एकत्व-शून्य है विश्व मानवी संस्कृति!

(मई '३९)

आठ

वे डूब गए—सब डूब गए
दुर्दम, उदग्रशिर अद्रि-शिखर !
स्वप्रस्थ हुए स्वर्णातप में
लो, स्वर्ण-स्वर्ण अब सब भूधर !

पल में कोमल पड़, पिघल उठे
सुन्दर बन, जड़, निर्मम प्रस्तर,
सब मन्त्र-मुग्ध हो, जड़ित हुए,
लहरों-से चित्रित लहरों पर !

मानव-जग में गिरि-कारा-सी
गत-युग की संस्कृतियाँ दुर्धर
वन्दी की हैं मानवता को
रच देश-जाति की भित्ति अमर।

ये डूबेंगी—सब डूबेंगी
पा नव मानवता का विकाश,
हँस देगा स्वर्णिम वज्र-लौह
छू मानव-आत्मा का प्रकाश !

(एप्रिल '३६)

नौ

तारों का नभ ! तारों का नभ !
सुन्दर, समृद्ध आदर्श सृष्टि !
जग के अनादि पथ-दर्शक वे,
मानव पर उनकी लगी दृष्टि !
वे देव-बाल भू को घेरे
भावी भव की कर रहे पुष्टि !

सेबों की कलियों-सा प्रभूत
वह भावी जग-जीवन-विकास !
मानव का विश्व-मिलन पवित्र,
चेतन आत्माओं का प्रकाश !

तारों का नभ ! तारों का नभ !
अङ्कित अपूर्व आदर्श-सृष्टि !
शाश्वत शोभा का खिला अदन,
अब होने को है पुष्प-वृष्टि !
चाँदनी चेतना की अमन्द
अग-जग को छू दे रही तुष्टि !

(अक्टूबर '३९)

दस

जीवन का फल, जीवन का फल !
यह चिर यौवन-श्री से मांसल !
इसके रस में आनन्द भरा,
इसका सौन्दर्य सदैव हरा;
पा दुख-सुख का छाया-प्रकाश
परिपक्व हुआ इसका विकास;
इसकी मिठास है मधुर प्रेम,
औ' अमर बीज चिर विश्व-क्षेम !

जीवन का फल, जीवन का फल !
इसका रस लो,—हो जन्म सफल।
तीखे, चमकीले दाँत चुभा
चाबो इसको, क्यों रहे लुभा ?
निर्भीक बनो, साहसी, शक्त,
जीवन-प्रेमी,—मत हो विरक्त।
सुन्दर : इच्छा की धरो आग,
प्रिय जगती पर दयिताऽनुराग !

(मई '३९)

ग्यारह

बढ़ो अभय, विश्वास-चरण धर !
सोचो वृथा न भव-भय-कातर !
ज्वाला के विश्वास के चरण,
जीवन-मरण समुद्र संतरण,
सुख-दुख की लहरों के शिर पर
पग धर, पार करो भव-सागर।
बढ़ो, बढ़ो विश्वास-चरण धर !

क्या जीवन ? क्यों ? क्या जग-कारण ?
पाप-पुण्य, सुख-दुख का वारण ?
व्यर्थ तर्क ! यह भव लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर !
पार करो विश्वास-चरण धर !

जीवन-पथ तमिस्रमय निर्जन,
हरती भव-तम एक लघु किरण,
यदि विश्वास हृदय में अणुभर
देंगे पथ तुमको गिरि-सागर ।
बढ़ो, अमर विश्वास-चरण धर !

(मई '३९)

बारह

गर्जन कर मानव-केशरि !
मर्म-स्पृह गर्जन,—
जग जावे जग में फिर से
सोया मानवपन !

काँप उठे मानस की अन्ध
गुहाओं का तम,
अक्षम क्षमताशील बनें
जावें दुबिधा, भ्रम !

निर्भय जग-जीवन कानन में
कर हे विचरण,
काँप मरें गत खर्व मनुजता के
मर्कट गण !

प्रखर नखर नव जीवन की
लालसा गड़ा कर
छिन्न-भिन्न करदे गतयुग के
शव को, दुर्धर !

गर्जन कर, मानव-केशरि !
प्राण-प्रद गर्जन,
जागें नवयुग के खग,
बरसा जीवन-कूजन !

(अक्टूबर '३४)

तेरह

बाँसों का झुरमुट—

संध्या का झुटपुट—

हैं चहक रहीं चिड़ियाँ

टी-वी-टी—टुट्-टुट् !

वे ढाल ढाल कर उर अपने

हैं बरसा रहीं मधुर सपने

श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर,

गा गीत स्नेह-वेदना सने !

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन ! भारी पग !!

आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग,
संध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग
औ' गन्ध-पवन झल मन्द व्यजन
भर रहे नयाँ इनमें जीवन,
ढीली हैं जिनकी रग-रग !

—यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आरहा,—सृष्टि के साथ पला !

\+ + + +

गा सके खगों-सा मेरा कवि
विश्री जग की सन्ध्या की छबि !
गा सके खगों-सा मेरा कवि
फिर हो प्रभात,—फिर आवे रवि !

(अक्तूबर '३९)

चौदह

जग-जीवन में जो चिर महान
सौन्दर्य-पूर्ण औ' सत्य-प्राण,
मैं उसका प्रेमी बनूँ, नाथ!
जिसमें मानव-हित हो समान!

जिससे जीवन में मिले शक्ति,
छूटें भय, संशय, अन्ध-भक्ति;
मैं वह प्रकाश बन सकूँ, नाथ!
मिल जावें जिसमें अखिल व्यक्ति!

दिशि-दिशि में प्रेम-प्रभा प्रसार,
हर भेद-भाव का अन्धकार,
मैं खोल सकूँ चिर मुँदे, नाथ!
मानव के उर के स्वर्ग-द्वार!

पाकर, प्रभु! तुमसे अमर दान
करने मानव का परित्राण,
ला सकूँ विश्व में एक बार
फिर से नव जीवन का विहान!

(मई '३९)

पन्द्रह

जो दीन-हीन, पीड़ित, निर्बल,
मैं हूँ उनका जीवन-संबल !
जो मोह-छिन्न, जग से विभक्त,
वे मुझ में मिलें, बनें सशक्त !
जो अहंपूर्ण, वे अन्ध-कूप,
जो नम्र, उठे बन कीर्ति-स्तूप !
जो छिन्न-भिन्न, जल-कण असार,
जो मिले, बने सागर अपार !
जग नाम-रूपमय अन्धकार,
मैं चिर-प्रकाश, मैं मुक्ति-द्वार !

(मई '३९)

सोलह

शत बाहु-पाद, शत नाम-रूप,
शत मन, इच्छा, वाणी, विचार,
शत राग-द्वेष, शत क्षुधा-काम,—
यह जग-जीवन का अन्धकार!

शत मिथ्या वाद-विवाद, तर्क,
शत रूढ़ि-नीति, शत धर्म-द्वार,
शिक्षा, संस्कृति, संस्था, समाज,—
यह पशु-मानव का अहंकार!

—यह दिशि-पल का तम, इन्द्रजाल,
बहु भेद-जन्य, भव क्लेश-भार,
प्रभु! बाँध एकता में अपनी
भर दें इसमें अमरत्व-सार!

(मई '३९)

सत्रह

ए मिट्टी के ढेले अजान !
तू जड़ अथवा चेतना-प्राण ?
क्या जड़ता-चेतनता समान,
निर्गुण, निसङ्ग, निस्पृह, वितान ?

कितने तृण, पौधे, मुकुल, सुमन,
संसृति के रूप-रंग मोहन,
ढीले कर तेरे जड़ बन्धन
आए औ' गए ! (यही क्या मन?)

अब हुआ स्वप्न मधु का जीवन,
विस्मृत-स्मृति के विमुक्त बन्धन !
खुल गया शून्यमय अवगुंठन
अज्ञेय सत्य तू जड़-चेतन !

(जून '३१)

अठारह

खोगई स्वर्ग की स्वर्ण-किरण
छू जग-जीवन का अन्धकार,
मानस के सूने-से तम को
दिशि-पल के स्वप्नों में सँवार !

गुँथ गए अजान तिमिर-प्रकाश
दे-दे जग-जीवन को विकास,
बहु रूप-रंग-रेखाओं में
भर विरह-मिलन का अश्रु-हास !

धुन जग का दुर्गम अन्धकार,
चुन नाम-रूप का अमृत सार,
मैं खोज रहा खोया प्रकाश
सुलझा जीवन के तार-तार !

खो गई स्वर्ग की अमर किरण
कुसुमित कर जग का अन्धकार,
जाने कब भूल पड़ा निज को
मैं उसको फिर इसको निहार !

(एप्रिल '२६)

उन्नीस

सुन्दरता का आलोक-स्रोत
है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात
होगा फिर जग के आँगन में!

मेरा स्वर होगा जग का स्वर,
मेरे विचार जग के विचार,
मेरे मानस का स्वर्ग-लोक
उतरेगा भू पर नई बार!

सुन्दरता का संसार नवल
अङ्कुरित हुआ मेरे मन में,
जिसकी नव मांसल हरीतिमा
फैलेगी जग के गृह-बन में!

होगा पल्लवित रुधिर मेरा
बन जग के जीवन का वसन्त,
मेरा मन होगा जग का मन,
औ' मैं हूँगा जग का अनन्त!

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नहीं जग में बाहर!

(एप्रिल '३६)

बीस

नव हे, नव हे !
नव नव सुषमा से मण्डित हो
चिर पुराण भव हे !
नव हे !—

नव ऊषा-संध्या अभिनन्दित
नव-नव ऋतुमयि भू, शशि-शोभित,
विस्मित हो, देखूँ मैं अतुलित
जीवन-वैभव हे !
नव हे !—

नव शैशव-यौवन हिल्लोलित
जन्म-मरण से हो जग दोलित,
नव इच्छाओं का हो उर में
आकुल पिक-रव हे !
नव हे !—

बाँधे रहें मुक्ति को बन्धन,
हो सीमा असीम अवलम्बन,
द्वार खड़े हों नित नव सुख-दुख
विजय-पराभव हे !
नव हे !

अपनी इच्छा से निर्मित जग,
कल्पित सुख-दुख के अस्थिर पग,
मेरे जीवन से हो जीवित
यह जग का शव हे !
नव हे !

(जुलाई '३४)

इक्कीस

बाँधोऽ, छबि के नव बन्धन बाँधो !
नव-नव आशाऽकाङ्क्षाओं में
तन-मन-जीवन बाँधो !
छबि के नव—

भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गन्ध कुसुम में, स्मिति अधरों में,
जीवन की तमिस्र-वेणी में
निज प्रकाश-कण बाँधो !
छबि के नव—

सुख से दुख औ' प्रलय से सृजन,
चिर आत्मा से अस्थिर रज-तन,
महामरण को जग-जीवन का
दे आलिङ्गन, बाँधो !
छबि के नव—

बाँधो जलनिधि लघु जल-कण में,
महाकाल को कवलित क्षण में,
फिर-फिर अपनेपन को मुझ में
चिर जीवन-धन ! बाँधो !
छबि के नव—

(जुलाई '३४)

बाईस

मञ्जरित आम्र-वन-छाया में
हम प्रिये, मिले थे प्रथम बार,
ऊपर हरीतिमा-नभ गुञ्जित,
नीचे चन्द्रातप छना स्फार !

तुम मुग्धा थी, अति भाव-प्रवण,
उकसे थे अँबियों-से उरोज,
चञ्चल, प्रगल्भ, हँसमुख, उदार,
मैं सलज,—तुम्हें था रहा खोज!
छनती थी ज्योत्स्ना शशि-मुख पर,
मैं करता था मुख-सुधा पान,—
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल,
भर गए गन्ध से मुग्ध प्राण!

तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल-वपु भरा गोद,
था आत्म-समर्पण सरल, मधुर,
मिल गए सहज मारुतामोद!
मञ्जरित आम्र-द्रुम के नीचे
हम प्रिये, मिले थे प्रथम-बार,
मधु के कर में था प्रणय-बाण,
पिक के उर में पावक-पुकार!

(मई '३९)

तेईस

वह विजन चाँदनी की घाटी
छाई मृदु वन-तरु-गन्ध जहाँ,
नीबू-आड़ू के मुकुलों के
मद से मलयानिल लदा वहाँ !

सौरभ-श्लथ हो जाते तन-मन,
बिछते झर-झर मृदु सुमन-शयन,
जिन पर छन, कम्पित पत्रों से,
लिखती कुछ ज्योत्स्ना जहाँ-तहाँ !

आ कोकिल का कोमल कूजन,
उकसाता आकुल उर-कम्पन,
यौवन का री वह मधुर स्वर्ग,
जीवन-बाधाएँ वहाँ कहाँ ?

(मई '३४)

छाया ?

वह लेटी है तरु-छाया में,
सन्ध्या-विहार को आया मैं।

मृदु बाँह मोड़, उपधान किए,
ज्यों प्रेम-लालसा पान किए;
उभरे उरोज, कुन्तल खोले,
एकाकिनि, कोई क्या बोले ?

वह सुन्दर है, साँवली सही,
तरुणी है,—हो षोड़षी रही;
विवसना, लता-सी तन्वङ्गिनि,
निर्जन में क्षण भर की संगिनि !

वह जागी है अथवा सोई ?
मूर्छित या स्वप्न-मूढ़ कोई ?
नारी कि अप्सरा या माया ?
अथवा केवल तरु की छाया ?

(एप्रिल '३९)

छाया

खोलो, मुख से घूँघट खोलो,
हे चिर अवगुंठनमयि, बोलो!
क्या तुम केवल चिर-अवगुंठन,
अथवा भीतर जीवन-कम्पन?

कल्पना मात्र मृदु देह-लता,
पा ऊर्ध्व ब्रह्म, माया विनता!
है स्पृश्य, स्पर्श का नहीं पता,
है दृश्य, दृष्टि पर सके बता!

पट पर पट केवल तम अपार,
पट पर पट खुले, न मिला पार !
सखि, हटा अपरिचय-अन्धकार
खोलो रहस्य के मर्म द्वार !
मैं हार गया तह छील-छील,
आँखों से प्रिय छबि लील-लील,
मैं हूँ या तुम ? यह कैसा छल !
या हम दोनों, दोनों के बल ?

तुम में कवि का मन गया समा,
तुम कवि के मन की हो सुषमा;
हम दो भी हैं या नित्य एक ?
तब कोई किसको सके देख ?

ओ मौन-चिरन्तन, तम-प्रकाश,
चिर अवचनीय, आश्चर्य-पाश !
तुम अतल गर्त, अविगत, अकूल,
फैली अनन्त में बिना मूल !
अज्ञेय, गुह्य अग-जग छाई,
माया, मोहिनि, सँग-सँग आई !
तुम कुहुकिनि, जग की मोह-निशा,
मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा !

(एप्रिल '३६)

शुक्र !

द्वाभा के एकाकी प्रेमी,
नीरव दिगन्त के शब्द मौन,
रवि के जाते, स्थल पर आते
कहते तुम तम से चमक—कौन ?

सन्ध्या के सोने के नभ पर
तुम उज्वल हीरक सदृश जड़े,
उदयाचल पर दीखते प्रात
अंगूठे के बल हुए खड़े !

अब सूनी दिशि औ' श्रान्त वायु,
कुम्हलाई पंकज-कली सृष्टि;
तुम डाल विश्व पर करुण-प्रभा
अविराम कर रहे प्रेम-वृष्टि !

ओ छोटे शशि, चाँदी के उडु !
जब जब फैले तम का विनाश,
तुम दिव्य-दूत से उतर शीघ्र
बरसाओ निज स्वर्गिक प्रकाश !

(मई '२१)

खद्योत

अँधियाली घाटी में सहसा
हरित स्फुलिङ्ग सदृश फूटा वह !
वह उड़ता दीपक निशीथ का,—
तारा-सा आकर टूटा वह !

जीवन के इस अन्धकार में
मानव-आत्मा का प्रकाश-कण
जग सहसा, ज्योतित कर देता
मानस के चिर गुह्य कुञ्ज-बन !

(मई '२९)

सृष्टि

मिट्टी का गहरा अन्धकार
डूबा है उसमें एक बीज,—
वह खो न गया, मिट्टी न बना,
कोदों, सरसों से क्षुद्र चीज़!

उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डाल-पात औ' स्कन्ध-मूल,
गहरी हरीतिमा की संसृति,
बहु रूप-रंग, फल और फूल !
वह है मुट्ठी में बन्द किए
वट के पादप का महाकार,
संसार एक ! आश्चर्य एक !
वह एक बूँद, सागर अपार !

बन्दी उसमें जीवन-अङ्कुर
जो तोड़ निखिल जग के बन्धन,—
पाने को है निज सत्व,—मुक्ति !
जड़ निद्रा से जग कर चेतन !

आः, भेद न सका सृजन-रहस्य
कोई भी ! वह जो क्षुद्र पोत,
उसमें अनन्त का है निवास,
वह जग-जीवन से ओत प्रोत !
मिट्टी का गहरा अन्धकार,
सोया है उसमें एक बीज,—
उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह अमर पुत्र ! वह तुच्छ चीज़ ?

(मई '३९)

ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
संग-सौध में हो शृङ्गार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन ?

मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !!
प्रेम-अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बनादें शव का ?
गत-युग के बहु धर्म-रूढ़ि के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किए हुए घर !
भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !

(अक्टूबर '३९)

मानव !

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम!
यौवन-ज्वाला से वेष्टित तन,
मृदु त्वच, सौन्दर्य-प्ररोह अङ्ग,
न्योछावर जिनपर निखिल प्रकृति,
छाया-प्रकाश के रूप-रङ्ग !

धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर-धार,
आँखें हैं दो लावण्य-लोक,
स्वर में निसर्ग-संगीत-सार!
पृथु उर, उरोज, ज्यों सर, सरोज,
दृढ़ बाहु प्रलम्ब प्रेम-बन्धन,
पीनोरु स्कन्ध जीवन-तरु के,
कर, पद, अंगुलि, नख-शिख शोभन!

यौवन की मांसल, स्वस्थ गंध,
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग!
अह्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल,
आ: प्रथम-प्रेम का मधुर स्वर्ग!
आशाऽभिलाष, उच्चाकाङ्क्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,
विश्वास, असद्-सद् का विवेक,
दृढ़ श्रद्धा, सत्य-प्रेम अक्षय!
मानसी भूतियाँ ये अमन्द,
सहृदयता, त्याग, सहानुभूति,—
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति स्वर्गीय,—स्वभाव-पूर्ति!

मानव का मानव पर प्रत्यय,
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान-ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक, एक सब में प्रकाश !
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव !

(एप्रिल '३९)

तितली

नीली, पीली औ' चटकीली
पंखों की प्रिय पँखड़ियाँ खोल,
प्रिय तिली! फूल-सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल?
चाँदी-सा फैला है प्रकाश,
चञ्चल अञ्चल-सा मलयानिल,
है दमक रही दोपहरी में
गिरि-घाटी सौ रंगों में खिल!

तुम मधु की कुसुमित अप्सरि-सी
उड़-उड़ फूलों को बरसाती,
शत इन्द्र चाप रच-रच प्रतिपल
किस मधुर गीति-लय में जाती?
तुमने यह कुसुम-विहग लिवास
क्या अपने सुख से स्वयं बुना?
छाया-प्रकाश से या जग के
रेशमी परों का रंग चुना?

क्या बाहर से आया, रंगिणि!
उर का यह आतप, यह हुलास?
या फूलों से ली अनिल-कुसुम!
तुमने मन के मधु की मिठास?
चाँदी का चमकीला आतप,
हिम-परिमल चञ्चल मलयानिल,
है दमक रही गिरि की घाटी
शत रत्न-छाय रंगों में खिल!

—चित्रिणि! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौन्दर्य-सृजन?
'वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर'—
क्या कहती यही, सुमन-चेतन?

(मई '३४)

सन्ध्या

कहो, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया-छबि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप,—
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !

मूँद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव-संकुल, बंकिम, भ्रू-चाप,
मौन, केवल तुम मौन !

ग्रीव तिर्यक, चम्पक-द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख-जलजात,
देह छबि-छाया में दिन-रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

अनिल-पुलकित स्वर्णाञ्चल लोल,
मधुर नूपुर-ध्वनि खग-कुल-रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल,
उड़ रही नभ में मौन !

लाज से अरुण-अरुण सुकपोल,
मदिर अधरों की सुरा अमोल,—
बने पावस-घन स्वर्ण-हिंदोल,
कहो, एकाकिनि, कौन ?
मधुर, मंथर तुम मौन !

(सितम्बर '३०)

बापू के प्रति

तुम मांस-हीन, तुम रक्त-हीन,
हे अस्थि-शेष ! तुम अस्थि-हीन,
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव-शून्य लीन;
आधार अमर, होगी जिसपर
भावी की संस्कृति समासीन !

तुम मांस, तुम्ही हो रक्त-अस्थि,—
निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
तुम धन्य! तुम्हारा निःस्व-त्याग
है विश्व-भोग का वर साधन।
इस भस्म-काम तन की रज से
जग पूर्ण-काम नव जग-जीवन
बीनेगा सत्य-अहिंसा के
ताने-बानों से मानवपन!

सदियों का दैन्य-तमिस्र तूम,
धुन तुमने कात प्रकाश-सूत,
हे नग्न! नग्न-पशुता ढँकदी
बुन नव संस्कृत मनुजत्व पूत।
जग पीड़ित छूतों से प्रभूत,
छू अमृत स्पर्श से, हे अछूत!
तुमने पावन कर, मुक्त किए
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत!

सुख-भोग खोजने आते सब,
आए तुम करने सत्य खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज !
जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर
चेतना, अहिंसा, नम्र-ओज,
पशुता का पङ्कज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज !

पशु-बल की कारा से जग को
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष, घृणा से लड़ने को
सिखलाई दुर्जय प्रेम-युक्ति;
वर श्रम-प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचार-परिणीत उक्ति,
विश्वानुरक्त हे अनासक्त !
सर्वस्व-त्याग को बना भुक्ति !

सहयोग सिखा शासित-जन को
शासन का दुर्वह हरा भार,
होकर निरस्त्र, सत्याग्रह से
रोका मिथ्या का बल-प्रहार;
बहु भेद-विग्रहों में खोई
ली जीर्ण जाति क्षय से उबार,
तुमने प्रकाश को कह प्रकाश,
औ' अन्धकार को अन्धकार।

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग-युग का विषय-जनित विषाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद।
रँग-रँग खद्दर के सूत्रों में
नव जीवन-आशा, स्पृहा, ह्लाद,
मानवी-कला के सूत्रधार!
हर दिया यन्त्र-कौशल-प्रवाद।

जड़वाद जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान,
यन्त्राभिभूत युग में करने
मानव-जीवन का परित्राण;
बहु छाया-बिम्बों में खोया
पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान,
फिर रक्त-मांस प्रतिमाओं में
फूँकने सत्य से अमर प्राण!

संसार छोड़ कर ग्रहण किया
नर-जीवन का परमार्थ-सार,
अपवाद बने, मानवता के
ध्रुव नियमों का करने प्रचार;
हो सार्वजनिकता जयी, अजित!
तुमने निजत्व निज दिया हार,
लौकिकता को जीवित रखने
तुम हुए अलौकिक, हे उदार!

मंगल-शशि-लोलुप मानव थे
विस्मित ब्रह्माण्ड-परिधि विलोक,
तुम केन्द्र खोजने आए तब
सब में व्यापक, गत राग-शोक;
पशु-पक्षी-पुष्पों से प्रेरित
उद्दाम-काम जन-क्रान्ति रोक,
जीवन-इच्छा को आत्मा के
वश में रख, शासित किए लोक।

था व्याप्त दिशावधि ध्वान्त : भ्रान्त
इतिहास विश्व-उद्भव प्रमाण,
बहु हेतु, बुद्धि, जड़ वस्तु-वाद
मानव-संस्कृति के बने प्राण;
थे राष्ट्र, अर्थ, जन, साम्य-वाद
छल सभ्य-जगत के शिष्ट-मान,
भू पर रहते थे मनुज नहीं,
बहु रूढ़ि-रीति प्रेतों-समान—

तुम विश्व-मञ्च पर हुए उदित
बन जग-जीवन के सूत्रधार,
पट पर पट उठा दिए मन से
कर नर-चरित्र का नवोद्धार;
आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि-पल के दृश्यों को सँवार,
गा-गा—एकोहं बहु स्याम,
हर लिए भेद, भव-भीति-भार !

एकता इष्ट निर्देश किया,
जग खोज रहा था जब समता,
अन्तर-शासन चिर राम-राज्य,
औ' बाह्य, आत्महन-अक्षमता;
हों कर्म-निरत जन, राग-विरत,
रति-विरति-व्यतिक्रम भ्रम-ममता,
प्रतिक्रिया-क्रिया साधन-अवयव,
है सत्य सिद्ध, गति-यति-क्षमता ।

ये राज्य, प्रजा, जन, साम्य-तन्त्र
शासन-चालन के कृतक यान,
मानस, मानुषी, विकास-शास्त्र
हैं तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान;
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन - उपकरण - चयन - प्रधान,
मथ सूक्ष्म-स्थूल जग, बोले तुम—
मानव मानवता का विधान!

साम्राज्यवाद था कंस, बन्दिनी
मानवता पशु-बलाक्रान्त,
शृङ्खला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन-पद शक्ति-भ्रान्त;
कारा-गृह में दे दिव्य जन्म
मानव-आत्मा को मुक्त, कान्त,
जन-शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत-पद-प्रणत, शान्त!

कारा थी संस्कृति विगत, भित्ति
बहु धर्म-जाति-गत रूप-नाम,
वन्दी जग-जीवन, भू विभक्त,
विज्ञान-मूढ़ जन प्रकृति-काम;
आए तुम मुक्त पुरुष, कहने—
मिथ्या जड़-बन्धन, सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति, तुमको प्रणाम !

(एप्रिल '३६)